

Chapter उन्नीस

बलि महाराज से वामनदेव द्वारा दान की याचना

इस उन्नीसवें अध्याय में यह बताया गया है कि भगवान् वामन ने किस प्रकार दान में तीन पग भूमि माँगी, किस प्रकार बलि महाराज ने उनका प्रस्ताव मान लिया और किस प्रकार शुक्राचार्य ने उन्हें भगवान् वामनदेव की माँग पूरी करने से मना किया।

जब बलि महाराज ने वामनदेव को ब्राह्मणपुत्र समझकर कुछ भी इच्छानुसार माँगने के लिए कहा तो भगवान् वामनदेव ने पहले हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष के वीरतापूर्ण कार्यकलापों की प्रशंसा की

और फिर जिस कुल में बलि महाराज उत्पन्न हुए थे उसकी प्रशंसा करके उन्होंने राजा से तीन पग भूमि माँगी। बलि महाराज ने इस भूमिदान को अत्यन्त तुच्छ समझकर दान देना स्वीकार कर लिया, किन्तु शुक्राचार्य समझ गये कि वामनदेव देवताओं के मित्र विष्णु हैं अतएव उन्होंने बलि महाराज को यह भूमि न देने को कहा। उन्होंने बलि महाराज को सलाह दी कि वे अपना वचन वापस ले लें। उन्होंने बताया कि अन्यो को वश में करने, हँसी-विनोद करने, संकट के कारण, अन्यो की कुशलता के लिए कार्य करने आदि में मनुष्य अपने वचनों को पूरा करने से मुकर सकता है और इसमें कोई दोष नहीं होता। इस तर्क से शुक्राचार्य ने बलि महाराज को भगवान् वामनदेव को भूमि-दान देने से रोकने का प्रयास किया।

श्रीशुक उवाच

इति वैरोचनेर्वाक्यं धर्मयुक्तं स सूनृतम् ।

निशम्य भगवान्प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; वैरोचनेः—विरोचन के पुत्र के; वाक्यम्—शब्दों को; धर्म-युक्तम्—धर्म से युक्त; सः—वह; सू-नृतम्—अत्यन्त सुहावने; निशम्य—सुनकर; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—पूर्णतया प्रसन्न होकर; प्रतिनन्द्य—उसको बधाई देकर; इदम्—निम्नलिखित शब्द; अब्रवीत्—कहे।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब भगवान् वामनदेव ने बलि महाराज को इस प्रकार सुहावने ढंग से बोलते हुए सुना तो वे परम प्रसन्न हुए क्योंकि बलि महाराज धार्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप बोले थे। इस तरह वे बलि की प्रशंसा करने लगे।

श्रीभगवानुवाच

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतं

कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम् ।

यस्य प्रमाणं भृगवः साम्पराये

पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वचः—शब्द; तव—तुम्हारे; एतत्—इस प्रकार के; जन-देव—हे जनता के राजा; सू-नृतम्—अत्यन्त सच; कुल-उचितम्—तुम्हारे वंश के अनुरूप; धर्म-युतम्—धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार; यशः-करम्—तुम्हारा यश फैलाने के लिए उपयुक्त; यस्य—जिसका; प्रमाणम्—साक्ष्य, प्रमाण; भृगवः—भृगुवंशी ब्राह्मण; साम्पराये—अगले जगत में; पितामहः—तुम्हारे बाबा; कुल-वृद्धः—कुल में सबसे बड़े, वयोवृद्ध; प्रशान्तः—अत्यन्त शान्त (प्रह्लाद महाराज)।

भगवान् ने कहा : हे राजा! तुम सचमुच महान् हो क्योंकि तुम्हें वर्तमान सलाह देने वाले

ब्राह्मण भृगुवंशी हैं, और तुम्हारे भावी जीवन के शिक्षक तुम्हारे बाबा (पितामह) प्रह्लाद महाराज हैं, जो शान्त एवं सम्माननीय (वयोवृद्ध) हैं। तुम्हारे कथन अत्यन्त सत्य हैं और वे धार्मिक शिष्टाचार से पूरी तरह मेल खाते हैं। वे तुम्हारे वंश के आचरण के अनुरूप हैं और तुम्हारे यश को बढ़ाने वाले हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज शुद्ध भक्त के ज्वलन्त उदाहरण हैं। कोई यह तर्क कर सकता है कि वृद्ध होते हुए भी चूँकि प्रह्लाद महाराज अपने परिवार के प्रति, विशेष रूप से अपने पौत्र बलि महाराज के प्रति, आसक्त थे तो फिर वे आदर्श कैसे बन सकते हैं ? इसलिए इस श्लोक में *प्रशान्तः* शब्द आया है। भक्त सदैव प्रशान्त होता है। वह किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। भले ही वह गृहस्थ जीवन क्यों न बिता रहा हो और भौतिक वस्तुओं को त्याग न कर पा रहा हो तो भी उसे प्रशान्त समझना चाहिए क्योंकि वह भगवान् की शुद्ध भक्ति करता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय

येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय

“कोई चाहे ब्राह्मण हो, या संन्यासी अथवा शूद्र—चाहे जो भी हो—यदि वह कृष्णतत्त्व को जानता है, तो वह गुरु बन सकता है” (*चैतन्यचरितामृत* मध्य ८.१२८)। कृष्ण का पूर्ण तत्त्ववेत्ता चाहे जीवन में किसी भी पद पर हो गुरु होता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज सभी परिस्थितियों में गुरु हैं।

यहाँ पर भगवान् वामनदेव संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को यह भी शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को आवश्यकता से अधिक नहीं माँगना चाहिए। उन्होंने केवल तीन पग भूमि माँगी जबकि बलि महाराज उन्हें मुँहमाँगा दान देना चाह रहे थे।

न ह्येतस्मिन्कुले कश्चिन्निसत्त्वः कृपणः पुमान् ।
प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वादाता द्विजातये ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एतस्मिन्—इसमें; कुले—कुल या परिवार में; कश्चित्—कोई; निःसत्त्वः—संकुचित मन वाला; कृपणः—कंजूस; पुमान्—कोई व्यक्ति; प्रत्याख्याता—मना करता है; प्रतिश्रुत्य—वचन देकर; यः वा—अथवा; अदाता—न देने वाला; द्विजातये—ब्राह्मणों को।

मुझे ज्ञात है कि आज तक तुम्हारे परिवार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जन्मा है, जो संकीर्ण मन

वाला या कंजूस हो। न तो किसी ने ब्राह्मणों को दान देने से मना किया है, न ही दान देने का वचन देकर कोई उसे पूरा करने से विमुख हुआ है।

न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनार्थिताः

पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृप ।

युष्मत्कुले यद्यशसामलेन

प्रह्लाद उद्भाति यथोदुपः खे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; सन्ति—हैं; तीर्थे—तीर्थस्थानों में; युधि—युद्धभूमि में; च—भी; अर्थिना—ब्राह्मण या क्षत्रिय द्वारा; अर्थिताः—जिनसे माँगा गया हो; पराङ्मुखाः—जिसने प्रार्थना को ठुकरा दिया हो; ये—ऐसे व्यक्ति; तु—निस्सन्देह; अमनस्विनः—ऐसे क्षुद्र हृदय वाले, निम्न कोटि के राजा; नृप—हे राजा (बलि महाराज); युष्मत्-कुले—तुम्हारे कुल में; यत्—जिसमें; यशसा अमलेन—निष्कलंक कीर्ति से; प्रह्लादः—प्रह्लाद महाराज; उद्भाति—उदय होता है; यथा—जिस प्रकार; उदुपः—चन्द्रमा; खे—आकाश में।

हे राजा बलि! तुम्हारे कुल में कभी भी ऐसा क्षुद्र हृदय वाला राजा उत्पन्न नहीं हुआ जिसने तीर्थस्थानों में ब्राह्मणों द्वारा माँगे जावे पर दान न दिया हो या युद्धभूमि में क्षत्रियों से लड़ने से मना किया हो। तुम्हारा वंश तो प्रह्लाद महाराज के कारण और भी यशस्वी है क्योंकि वे आकाश में सुन्दर चन्द्रमा के समान हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता में क्षत्रिय के लक्षण दिये गये हैं। उनमें से एक लक्षण है दान देने की प्रवृत्ति। क्षत्रिय न तो कभी ब्राह्मण द्वारा माँगे जाने पर दान देने से मना करता है न अन्य क्षत्रिय से युद्ध करने से इनकार करता है। जो राजा मना करता है, वह क्षुद्र-हृदय कहलाता है। बलि महाराज के वंश में ऐसे क्षुद्र-हृदय राजा कभी नहीं हुए।

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम् ।

प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यतः—जिस वंश में; जातः—उत्पन्न हुआ था; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष नामक राजा; चरन्—घूमते हुए; एकः—अकेले; इमाम्—इस; महीम्—पृथ्वी को; प्रतिवीरम्—प्रतिद्वन्द्वी; दिक्-विजये—सारी दिशाओं को जीतने के लिए; न अविन्दत—नहीं पा सका; गदा-आयुधः—अपनी गदा लिए।

तुम्हारे ही वंश में हिरण्याक्ष ने जन्म लिया था। वह केवल अपनी गदा लेकर सारी दिशाओं को जीतने के लिए बिना किसी सहायता के सारी पृथ्वी में अकेले घूम आया, किन्तु उसे कोई ऐसा वीर न मिला जो उस का सामना कर सके।

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्षमोद्धार आगतम् ।
आत्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; विनिर्जित्य—जीतकर; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; विष्णुः—वराह अवतार में भगवान् विष्णु ने; क्षमा-उद्धार—पृथ्वी के उद्धार के समय; आगतम्—उनके समक्ष प्रकट हुआ; आत्मानम्—स्वयं; जयिनम्—विजयी; मेने—विचार किया; तत्-वीर्यम्—हिरण्याक्ष का पराक्रम; भूरि—निरन्तर, या अधिकाधिक; अनुस्मरन्—चिन्तन करते हुए।

गर्भोदक सागर से पृथ्वी का उद्धार करते समय भगवान् विष्णु ने वराह अवतार में हिरण्याक्ष का वध किया जो उनके समक्ष प्रकट हो गया था। तब घमासान युद्ध हुआ और भगवान् ने उसे बड़ी कठिनाई से मारा। बाद में जब भगवान् ने हिरण्याक्ष के असाधारण पराक्रम के विषय में विचार किया, तो उन्होंने अपने को सचमुच विजयी अनुभव किया।

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा ।
हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत्-वधम्—हिरण्याक्ष के वध को; भ्राता—भाई; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; पुरा—बहुत पहले; हन्तुम्—मारने के लिए; भ्रातृ-हणम्—अपने भाई के हत्यारे को; क्रुद्धः—अत्यन्त क्रोधित; जगाम—गया; निलयम्—धाम में; हरेः—भगवान् के।

जब हिरण्यकशिपु ने सुना कि उसके भाई का वध कर दिया गया है, तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने भाई के हत्यारे विष्णु को मारने उनके धाम गया।

तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत् ।
चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (हिरण्यकशिपु को); आयान्तम्—आगे आते हुए; समालोक्य—बारीकी से देखकर; शूल-पाणिम्—अपने हाथ में त्रिशूल लेकर; कृतान्त-वत्—साक्षात् काल के समान; चिन्तयाम् आस—सोचा; काल-ज्ञः—काल की गति को जानने वाले; विष्णुः—विष्णु ने; मायाविनाम्—सभी प्रकार के मायावियों के; वरः—प्रमुख, मुखिया।

हिरण्यकशिपु को हाथ में त्रिशूल लिए साक्षात् काल की भाँति आगे बढ़ते देखकर समस्त मायावियों में श्रेष्ठ तथा काल की गति को जानने वाले भगवान् विष्णु ने इस प्रकार सोचा।

यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव ।
अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि परावृष्टः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यतः यतः—जहाँ-जहाँ, जहाँ कहीं भी; अहम्—मैं; तत्र—वहीं; असौ—यह हिरण्यकशिपु; मृत्युः—मृत्यु; प्राण-भृताम्—समस्त जीवों के; इव—सदृश; अतः—इसलिए; अहम्—मैं; अस्य—उसके; हृदयम्—अन्तःस्थल में; प्रवेक्ष्यामि—प्रवेश करूँगा; पराक्-दृशः—ऐसे व्यक्ति का जिसको केवल बाह्य दृष्टि प्राप्त है।

जहाँ कहीं भी मैं जाऊँगा, हिरण्यकशिपु मेरा पीछा करेगा जिस तरह मृत्यु सभी जीवों का पीछा करती है। अतएव मेरे लिए यही श्रेयस्कर होगा कि इसके अन्तःस्थल में प्रवेश कर जाऊँ। तब यह अपनी केवल बहिर्मुखी दृष्टि की शक्ति के कारण मुझे नहीं देख सकेगा।

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीर-

माधावतो निर्विविशोऽसुरेन्द्र ।

श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेह-

स्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; सः—वह (भगवान् विष्णु); निश्चित्य—निर्णय करके; रिपोः—शत्रु के; शरीरम्—शरीर में; आधावतः—जो तेजी से भगवान् के पीछे-पीछे दौड़ रहा था; निर्विविशो—घुस गया; असुर-इन्द्र—हे असुर राजा (महाराज बलि); श्वास-अनिल—साँस के साथ; अन्तर्हित—अदृश्य; सूक्ष्म-देहः—अपने सूक्ष्म शरीर में; तत्-प्राण-रन्ध्रेण—उसके नथुने के छिद्र से होकर; विविग्न-चेताः—अत्यन्त उत्सुक होकर।

भगवान् वामनदेव ने आगे कहा : हे असुर राजा! इस निर्णय के बाद भगवान् अपने पीछे तेजी से दौते अपने शत्रु हिरण्यकशिपु के शरीर में प्रवेश कर गये। सूक्ष्म शरीर जिसकी हिरण्यकशिपु कल्पना भी न कर सकता था, धारण करके चिन्तामग्न भगवान् विष्णु उसकी श्वास के साथ उसके नथुने में प्रविष्ट हो गए।

तात्पर्य : भगवान् पहले से ही हर एक के हृदय के भीतर विद्यमान हैं। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (भगवद्गीता १८.६१)। अतएव तर्क के अनुसार हिरण्यकशिपु के शरीर के भीतर प्रवेश करना विष्णु के लिए जरा भी कठिन नहीं था। विविग्न चेताः शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है “अत्यन्त चिन्तित।” ऐसा नहीं है कि भगवान् विष्णु हिरण्यकशिपु से भयभीत थे, प्रत्युत करुणावश भगवान् चिन्तित थे कि उसके कल्याण के लिए क्या किया जाये।

स तन्निकेतं परिमृश्य शून्य-

मपश्यमानः कुपितो ननाद ।

क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान्समुद्रान्

विष्णुं विचिन्वन्न ददर्श वीरः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—उस हिरण्यकशिपु ने; तत्-निकेतम्—भगवान् विष्णु के निवास को; परिमृश्य—ढूँढकर; शून्यम्—रिक्त; अपश्यमानः—विष्णु को न देखकर; कुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; ननाद—जोर से गर्जना की; क्षमाम्—पृथ्वी पर; द्याम्—बाह्य आकाश में; दिशः—सभी दिशाओं में; खम्—आकाश में; विवरान्—सारी गुफाओं में; समुद्रान्—सारे समुद्रों में; विष्णुम्—विष्णु को; विचिन्वन्—ढूँढते हुए; न—नहीं; ददर्श—देखा; वीरः—यद्यपि वह अत्यन्त शक्तिशाली था।

भगवान् विष्णु के निवासस्थान को रिक्त देखकर हिरण्यकशिपु ने सर्वत्र उन की खोज करनी शुरू की। उन्हें न पाने के कारण क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपु ने जोर से गर्जना की और फिर सारे ब्रह्माण्ड, पृथ्वी, स्वर्गलोक, सारी दिशाओं तथा सारी गुफाओं एवं समुद्रों में उन्हें खोजना शुरू किया। किन्तु महान् वीर विष्णु को कहीं नहीं देख पाया।

अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत् ।

भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्तते पुमान् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अपश्यन्—उन्हें न देखकर; इति—इस प्रकार; ह उवाच—बोला; मया—मेरे द्वारा; अन्विष्टम्—खोजा गया; इदम्—यह सम्पूर्ण; जगत्—ब्रह्माण्ड; भ्रातृ-हा—भाई का वध करने वाला विष्णु; मे—मेरे; गतः—चला गया होगा; नूनम्—निश्चय ही; यतः—जहाँ से; न—नहीं; आवर्तते—वापस आ सकता है; पुमान्—कोई मनुष्य।

उन्हें न देखकर हिरण्यकशिपु ने कहा : मैंने सारा ब्रह्माण्ड छान मारा, किन्तु अपने भाई के हत्यारे विष्णु को मैं कहीं नहीं पा सका। अतएव वह अवश्य ही ऐसी जगह चला गया होगा जहाँ से कोई भी लौट नहीं सकता (अर्थात् वह अब मर गया होगा)।

तात्पर्य : सामान्यतया नास्तिक लोग बौद्ध दर्शन के इस निर्णय के अनुयायी होते हैं कि मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है। नास्तिक होने के कारण हिरण्यकशिपु ने इसी तरह सोचा। चूँकि उसे भगवान् विष्णु नहीं दिख पाये थे अतएव उसने सोचा कि वे मर गये हैं। आज भी बहुत से लोग इसी विचारधारा के हैं कि ईश्वर मृत है लेकिन ईश्वर कभी भी मृत नहीं होता। यहाँ तक कि जीव भी जो ईश्वर का अंश है कभी नहीं मरता। *न जायते म्रियते वा कदाचित्*—आत्मा का न तो कभी जन्म होता है, न मृत्यु। यह *भगवद्गीता* का कथन है (२.२०)। यहाँ तक कि सामान्य जीव भी न कभी जन्म लेता है, न मरता है। तो फिर उन भगवान् के विषय में क्या कहा जाये जो समस्त जीवों का स्वामी हैं? निश्चय ही, वे न तो कभी जन्मते हैं, न मरते हैं। *अजोऽपि सन्नव्ययात्मा* (*भगवद्गीता* ४.६)। भगवान् तथा जीव (आत्मा) दोनों ही अजन्मा तथा अव्यय व्यक्ति हैं। अतएव हिरण्यकशिपु का यह निष्कर्ष कि विष्णु मर गये गलत था।

जैसाकि *यतो नावर्तते पुमान्* शब्दों से सूचित होता है, अवश्य ही कोई आध्यात्मिक लोक है और वहाँ जाने पर जीव फिर कभी इस भौतिक जगत में नहीं लौटता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।* भौतिक दृष्टि से तो हर जीव मरता है; मृत्यु अवश्यम्भावी है। किन्तु कर्मी, ज्ञानी तथा योगीजन मृत्यु के बाद इस भौतिक जगत में लौट आते हैं जबकि भक्त नहीं लौटते। हाँ, यदि भक्त परि-पूर्ण नहीं होता तो वह इस भौतिक जगत में फिर से जन्म लेता है, किन्तु किसी उच्चपद पर या धनी कुल में या शुद्ध ब्राह्मण के घर में जन्म लेता है (*शुचीनां श्रीमतां गेहे*) जिससे उसकी आध्यात्मिक चेतना का विकास पूरा हो सके। जिन्होंने कृष्णभावनामृत का अध्ययन पूर्ण कर लिया है और जो निष्काम हैं, वे भगवद्धाम को वापस जाते हैं (*यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*)। यहाँ इसी तथ्य का वर्णन हुआ है—*यतो नावर्तते पुमान्।* जो व्यक्ति भगवान् के धाम को वापस चला जाता है, वह फिर इस भौतिक जगत में लौटकर नहीं आता।

वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम् ।

अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वैर-अनुबन्धः—शत्रुभाव, शत्रुता; एतावान्—इतनी अधिक; आमृत्योः—मृत्यु पर्यन्त; इह—इस; देहिनाम्—देहात्मबुद्धि में लिप्त पुरुषों का; अज्ञान-प्रभवः—अज्ञान के महान् प्रभाव वश; मन्युः—क्रोध; अहम्-मान—अहंकार से; उपबृंहितः—बढ़ा हुआ।

भगवान् विष्णु के प्रति हिरण्यकशिपु का क्रोध उसकी मृत्यु तक बना रहा। देहात्मबुद्धि वाले अन्य लोग केवल मिथ्या अहंकार तथा अज्ञान के प्रबल प्रभाव के कारण क्रोध बनाये रखते हैं।

तात्पर्य : सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि बद्धजीव यद्यपि क्रुद्ध हो जाए तो उसका क्रोध शाश्वत न होकर क्षणिक होता है। ऐसा अज्ञान के कारण है। किन्तु हिरण्यकशिपु विष्णु के प्रति अपनी शत्रुता एवं अपने क्रोध को आमरण बनाये रहा। वह विष्णु से बदला लेने की प्रवृत्ति को कभी नहीं भुला पाया क्योंकि उन्होंने उसके भाई को मारा था। देहात्मबुद्धि से ग्रस्त अन्य लोग अपने शत्रुओं पर क्रुद्ध रहते हैं लेकिन भगवान् विष्णु पर नहीं। किन्तु हिरण्यकशिपु लगातार क्रुद्ध रहा। वह न केवल मिथ्या प्रतिष्ठा के कारण अपितु निरन्तर शत्रुता के कारण विष्णु के प्रति क्रुद्ध था।

पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान्द्विजवत्सलः ।

स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात्स याचितः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

पिता—पिता; प्रह्लाद-पुत्रः—महाराज प्रह्लाद का पुत्र; ते—तुम्हारा; तत्-विद्वान्—यद्यपि यह उसे ज्ञात था; द्विज-वत्सलः—फिर भी ब्राह्मणों के प्रति प्रेम होने से; स्वम्—अपनी; आयुः—उम्र; द्विज-लिङ्गेभ्यः—जो ब्राह्मणों के वेश में थे; देवेभ्यः—देवताओं को; अदात्—दे दिया; सः—उसने; याचितः—माँगे जाने पर।

तुम्हारे पिता विरोचन, जो महाराज प्रह्लाद के पुत्र थे, ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल थे।

यद्यपि वे भलीभांति जानते थे कि ब्राह्मणों का वेश धारण करके देवतागण उनके समक्ष आये थे, किन्तु उनके माँगने पर उन्होंने उन्हें अपनी आयु दे डाली।

तात्पर्य : बलि के पिता महाराज विरोचन ब्राह्मण वर्ग से इतने प्रसन्न थे कि यह जानते हुए भी कि उनसे दान लेने के लिए ब्राह्मणों का वेश धारण करके देवता आये हैं, उन्होंने दान देना स्वीकार किया।

भवानाचरितान्धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः ।

ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्तिभिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आपने; आचरितान्—सम्पन्न किया; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्तों को; आस्थितः—स्थित होकर; गृहमेधिभिः—गृहस्थों के द्वारा; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के द्वारा; पूर्व-जैः—अपने पुरखों के द्वारा; शूरैः—वीरों के द्वारा; अन्यैः च—तथा अन्यो के द्वारा भी; उद्दाम-कीर्तिभिः—अत्यन्त उच्च तथा प्रसिद्ध।

तुमने भी गृहस्थ ब्राह्मणों, अपने पुरखों तथा महान् कार्यो के लिए सुविख्यात शूरवीरों जैसे

महान् पुरुषों के सिद्धान्तों का पालन किया है।

तस्मान्त्वत्तो महीमीषद्वृणेऽहं वरदर्षभात् ।

पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—ऐसे व्यक्ति से; त्वत्तः—आपसे; महीम्—पृथ्वी; ईषत्—थोड़ी सी; वृणे—माँग रहा हूँ; अहम्—मैं; वरद-ऋषभात्—मुक्तहस्त दान देने वाले व्यक्ति से; पदानि—पग; त्रीणि—तीन; दैत्य-इन्द्र—हे दैत्यराज; सम्मितानि—माप के बराबर; पदा—पाँव के द्वारा; मम—मेरे।

हे दैत्यराज! ऐसे कुलीन एवं मुक्तहस्त दान देने वाले आपसे मैं अपने पैरों से मापकर केवल

तीन पग भूमि की याचना करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् वामनदेव अपने पैरों से नापकर केवल तीन पग भूमि चाह रहे थे। उन्हें आवश्यकता से अधिक भूमि नहीं चाहिए थी। किन्तु यद्यपि उन्होंने सामान्य मानवी बालक का वेश बना रखा था, वास्तव में वे ऊर्ध्व, मध्य तथा अधो लोकों से घिरी भूमि को दान में लेना चाह रहे थे।

भगवान् ने अपना पराक्रम दिखलाने के लिए ऐसा किया था।

नान्यत्ते कामये राजन्वदान्याज्जगदीश्वरात् ।

नैनः प्राप्नोति वै विद्वान्यावदर्थप्रतिग्रहः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; ते—तुमसे; कामये—याचना करता हूँ; राजन्—हे राजा; वदान्यात्—जो इतने दानी हैं; जगत्-ईश्वरात्—सारे ब्रह्माण्ड के राजा से; न—नहीं; एनः—दुख; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; वै—निस्सन्देह; विद्वान्—विद्वान्; यावत्-अर्थ—जिसे जितना चाहिए; प्रतिग्रहः—अन्यों से दान लेना।

हे समग्र ब्रह्माण्ड के नियामक राजा! यद्यपि आप अत्यन्त उदार हैं और जितनी भूमि चाहूँ मुझे दे सकते हैं, किन्तु मैं आपसे अनावश्यक वस्तु नहीं माँगना चाहता। यदि कोई विद्वान् ब्राह्मण अन्यों से अपनी आवश्यकतानुसार दान लेता है, तो वह पापपूर्ण कर्मों में नहीं फँसता।

तात्पर्य : कोई ब्राह्मण या संन्यासी अन्यों से दान माँग सकता है, किन्तु यदि वह आवश्यकता से अधिक लेता है, तो वह दण्डनीय है। कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से अधिक भगवान् की सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकता। भगवान् वामनदेव अप्रत्यक्षतः बलि महाराज को इंगित कर रहे थे कि उसके पास आवश्यकता से अधिक भूमि है। भौतिक जगत में सारे क्लेश अपव्यय के कारण हैं। मनुष्य अंधाधुन्ध धन एकत्र कर लेता है और इसका वह अपव्यय भी करता है। ऐसे कार्यकलाप पापपूर्ण हैं। सारी सम्पत्ति भगवान् की है और सारे जीव भगवान् की सन्तानें होने के कारण अपने परम पिता की सम्पत्ति का उपयोग करने के अधिकारी हैं, किन्तु कोई आवश्यकता से अधिक नहीं ले सकता। इस सिद्धान्त का पालन ब्राह्मणों या संन्यासियों को विशेष रूप से करना चाहिए क्योंकि वे अन्यों के बल पर पलते हैं। इस तरह वामनदेव एक आदर्श याचक थे क्योंकि उन्होंने केवल तीनपग भूमि माँगी थी। निस्सन्देह, उनके पगों में तथा एक सामान्य व्यक्ति के पगों में अन्तर है। भगवान् अपने अचिन्त्य पराक्रम से अपने पदचाप को असीम नाप से सारे ब्रह्माण्ड को घेर सकते हैं जिसमें ऊर्ध्व, अधो तथा मध्य लोक सम्मिलित हैं।

श्रीबलिरुवाच

अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसम्मताः ।

त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-बलि: उवाच—बलि महाराज ने कहा; अहो—आह; ब्राह्मण-दायाद—ब्राह्मण पुत्र; वाचः—वचन; ते—तुम्हारे; वृद्ध-सम्पत्ताः—विद्वानों तथा गुरुजनों को मान्य हैं; त्वम्—तुम; बालः—बालक; बालिश-मतिः—पर्याप्तज्ञान के बिना; स्व-अर्थम्—स्वार्थ या हित; प्रति—के प्रति; अबुधः—ठीक से न जानते हुए; यथा—मानो।

बलि महाराज ने कहा : हे ब्राह्मण पुत्र! तुम्हारे उपदेश विद्वान तथा वयोवृद्ध पुरुषों जैसे हैं। तो भी अभी तुम बालक हो और तुम्हारी बुद्धि अल्प है। अतएव तुम्हें अपने हित का पूरी तरह ज्ञान नहीं है।

तात्पर्य : भगवान् अपने में पूर्ण हैं अतएव उन्हें अपने स्वार्थ के लिए वास्तव में कुछ भी नहीं चाहिए। अतः भगवान् वामनदेव बलि महाराज के पास स्वार्थ साधन के लिए नहीं गये थे। जैसाकि भगवद्गीता (५.२९) में कहा गया है— भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। भगवान् इस लोक के तथा स्वर्गलोक के सभी लोकों के स्वामी हैं। भला उन्हें भूमि की क्या आवश्यकता? बलि महाराज ने ठीक ही कहा है कि वामनदेव को अपने हित के लिए तनिक भी बुद्धि से काम नहीं ले रहे हैं। वामनदेव अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु अपने भक्तों के कल्याण के लिए बलि महाराज के पास गये थे। बुद्धि से काम नहीं ले रहे भक्तगण भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अपने सारे स्वार्थों की बलि कर देते हैं। इसी तरह भगवान् भी अपना निजी स्वार्थ न रखते हुए, भक्तों के लिए कुछ भी कर सकते हैं। जो स्वयं पूर्ण है उसमें भला कोई स्वार्थ कैसे होगा ?

मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम् ।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान्द्वीपदाशुषम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; वचोभिः—मधुर वचनों से; समाराध्य—पर्याप्त तुष्ट करके; लोकानाम्—इस ब्रह्माण्ड के सारे लोकों का; एकम्—एकमात्र; ईश्वरम्—स्वामी, नियन्ता; पद-त्रयम्—तीन पग; वृणीते—माँग रहा है; यः—जो; अबुद्धिमान्—मूर्ख; द्वीप-दाशुषम्—क्योंकि मैं तुम्हें समूचा द्वीप दे सकता हूँ।

मैं तुम्हें समूचा द्वीप दे सकता हूँ क्योंकि मैं ब्रह्माण्ड के तीनों विभागों का स्वामी हूँ। तुम मुझसे कुछ लेने आये हो और तुमने मुझे अपने मधुर वचनों से सन्तुष्ट किया है, किन्तु तुम केवल तीन पग भूमि माँग रहे हो अतएव तुम मुझे अधिक बुद्धिमान् नहीं लगते हो।

तात्पर्य : वैदिक ज्ञान के अनुसार समग्र ब्रह्माण्ड शून्य का सागर है। उस सागर में असंख्य लोक हैं और इनमें से प्रत्येक लोक एक द्वीप कहलाता है। जब वामनदेव बलि महाराज से भिक्षा माँगने गये तो सभी द्वीप वास्तव में उनके अधिकार में थे। बलि महाराज वामनदेव के स्वरूप को देखकर अत्यन्त

प्रसन्न थे और वे मुंहमाँगी भूमि देने को तैयार थे लेकिन जब वामनदेव ने केवल तीन पग भूमि माँगी तो बलि महाराज ने सोचा कि वे अधिक बुद्धिमान् नहीं हैं।

न पुमान्मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति ।
तस्माद्वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पुमान्—कोई व्यक्ति; माम्—मेरे पास; उपव्रज्य—पास आकर; भूयः—पुनः; याचितुम्—माँगने के लिए; अर्हति—योग्य होता है; तस्मात्—इसलिए; वृत्ति-करीम्—अपना पालन करने के लिए उपयुक्त; भूमिम्—भूमि को; वटो—हे लघु ब्रह्मचारी; कामम्—जीवन की आवश्यकता के अनुसार; प्रतीच्छ—ले लो; मे—मुझसे।

हे बालक! जो एक बार कुछ माँगने के लिए मेरे पास आता है उसे अन्यत्र कुछ भी माँगने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। अतएव, चाहो तो तुम मुझसे उतनी भूमि माँग सकते हो जितने से तुम्हारी जीवन-यापन संबंधी आवश्यकता पूरी हो सके।

श्रीभगवानुवाच

यावन्तो विषयाः प्रेष्ठास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम् ।
न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यावन्तः—यथासम्भव; विषयाः—इन्द्रिय भोग के विषय; प्रेष्ठाः—हर एक के लिए सुहावना; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; अजित-इन्द्रियम्—जिसकी इन्द्रियाँ वश में न हों; न शक्नुवन्ति—असमर्थ हैं; ते—वे; सर्वे—सभी मिलाकर; प्रतिपूरयितुम्—सन्तुष्ट करने के लिए; नृप—हे राजा।

भगवान् ने कहा : हे राजा! जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं उसे तीनों लोकों में इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए जो कुछ भी है संतुष्ट नहीं कर सकता।

तात्पर्य : भौतिक जगत वह माया है, जो जीवों को आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से विचलित करती है। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिक से अधिक वस्तुएँ पाने के लिए उत्सुक रहता है। किन्तु वास्तव में जीवन का उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति न होकर आत्म-साक्षात्कार है। अतएव जो लोग इन्द्रियतृप्ति के प्रति अधिक आसक्त होते हैं उन्हें अष्टांगयोग पद्धति का अभ्यास करने की सलाह दी जाती है, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार से इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है। इन्द्रियों को वश में करने का उद्देश्य मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में पड़ने से रोकना है। जैसाकि ऋषभदेव ने कहा है—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म

यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयम्

असन्नपि क्लेशद आस देहः ॥

“जब कोई मनुष्य इन्द्रियतृप्ति को जीवन का लक्ष्य मान बैठता है, तो वह निश्चित रूप से भौतिक जीवन के पीछे उन्मत्त हो जाता है और सभी प्रकार के पापकर्मों में लिप्त रहने लगता है। वह यह नहीं जानता कि विगत दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप ही उसे यह शरीर प्राप्त हुआ है, जो क्षणिक होते हुए भी उसके दुख का कारण है। वास्तव में जीव को यह भौतिक शरीर नहीं ग्रहण करना चाहिए था, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए ही उसे यह शरीर दिया गया है। अतएव मेरे विचार से किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए यह उपयुक्त नहीं होगा कि वह पुनः इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लिप्त हो जिनसे वह लगातार एक के बाद दूसरा भौतिक शरीर प्राप्त करता रहता है।” (भागवत ५.५.४)। इस तरह ऋषभदेव के अनुसार इस भौतिक जगत के सारे मनुष्य पागलों की तरह उन कार्यों में लगे रहते हैं, जिन्हें उन्हें नहीं करना चाहिए, किन्तु जिन्हें वे मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए अवश्य सम्पन्न करते हैं। ऐसे कार्य उत्तम नहीं हैं क्योंकि इससे उसे अगले जीवन में अपने दुष्कर्मों के दण्डस्वरूप पुनः शरीर प्राप्त होता है और पुनः दूसरा शरीर प्राप्त होने पर उसे संसार में बार-बार कष्ट भोगना पड़ता है। अतएव वैदिक या ब्राह्मण संस्कृति मनुष्य को सिखाती है कि किस प्रकार जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से सन्तुष्ट रहा जाये।

इस सर्वोच्च संस्कृति की शिक्षा देने के लिए वर्णाश्रम धर्म की संस्तुति की गई है। वर्णाश्रम विभागों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास का उद्देश्य इन्द्रियों को वश में करने और कम से कम आवश्यकताओं से सन्तुष्ट रहने की शिक्षा देना है। आदर्श ब्रह्मचारी के रूप में भगवान् वामनदेव बलि महाराज की इस भेंट को टुकराते हैं कि वे जो चाहें सो माँग लें। वे कहते हैं कि सन्तोष के बिना कोई कभी सुखी नहीं रह सकता भले ही उसे सारे जगत या सारे ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो ले। अतएव मानव समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य संस्कृतियों का पालन होना चाहिए और लोगों को उतने से ही सन्तुष्ट रहने की शिक्षा दी जानी चाहिए जितने की उन्हें आवश्यकता हो। आधुनिक सभ्यता में ऐसी कोई शिक्षा नहीं है; प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है और प्रत्येक व्यक्ति असन्तुष्ट तथा दुखी है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन विशेष

रूप से अमरीका में विविध कृषि क्षेत्रों की स्थापना कर रहा है, जिससे सुखी बनने और जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से सन्तुष्ट रहने एवं हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—करके बड़ी आसानी से आत्म-साक्षात्कार के लिए समय बचाया जा सके।

त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते ।

नववर्षसमेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

त्रिभिः—तीन; क्रमैः—क्रमवार; असन्तुष्टः—असन्तुष्ट; द्वीपेन—द्वीप से; अपि—यद्यपि; न पूर्यते—सन्तुष्ट नहीं होता; नव-वर्ष-समेतेन—नौ वर्षों को प्राप्त करके भी; सप्त-द्वीप-वर-इच्छया—सातों द्वीपों पर अधिकार पाने की इच्छा।

यदि मैं तीन पग भूमि से सन्तुष्ट न होऊँ तब तो यह निश्चित है कि नौ वर्षों से युक्त सातों द्वीपों में से एक द्वीप पाकर भी मैं सन्तुष्ट नहीं हो सकूँगा। यदि मुझे एक द्वीप भी मिल जाये तो मैं अन्य द्वीपों को पाने की आशा करूँगा।

सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैण्यगयादयः ।

अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सप्त-द्वीप-अधिपतयः—सात द्वीपों के मालिक; नृपाः—राजा; वैण्य-गय-आदयः—महाराज पृथु, महाराज गय तथा अन्य; अर्थैः—उद्देश्यपूर्ति के लिए; कामैः—अपनी इच्छाओं की तुष्टि हेतु; गताः नः—नहीं पहुँच सके; अन्तम्—अन्त तक; तृष्णायाः—अपनी इच्छाओं के; इति—इस प्रकार; नः—हमारे द्वारा; श्रुतम्—सुना गया।

हमने सुना है कि यद्यपि महाराज पृथु तथा महाराज गय जैसे शक्तिशाली राजाओं ने सातों द्वीपों पर स्वामित्व प्राप्त कर लिया था, किन्तु फिर भी उन्हें न तो सन्तोष प्राप्त हुआ न ही वे अपनी आकांक्षाओं का कोई अन्त पा सके।

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्तते सुखम् ।

नासन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—अपने कर्म के अनुसार परम सत्ता द्वारा जो कुछ प्रदत्त है; उपपन्नेन—जो कुछ मिला है उससे; सन्तुष्टः—मनुष्य को सन्तुष्ट होना चाहिए; वर्तते—है; सुखम्—सुख; नः—नहीं; असन्तुष्टः—असन्तुष्ट के लिए; त्रिभिः लोकैः—तीनों लोकों को पाने पर; अजित-आत्मा—जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकती; उपसादितैः—भले ही प्राप्त क्यों न कर ले।

मनुष्य को अपने प्रारब्ध से जो कुछ मिलता है उससे सन्तुष्ट रहना चाहिए क्योंकि असन्तोष

से कभी भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जो व्यक्ति आत्मसंयमी नहीं है, वह तीनों लोकों को पाकर भी सुखी नहीं होगा।

तात्पर्य : यदि सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है, तो प्रारब्ध से जो पद प्राप्त हुआ है उसी से मनुष्य को सन्तुष्ट रहना चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने भी यही आदेश दिया है—

सुखम् ऐन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।

सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखम् अयत्नतः ॥

“हे दैत्य मित्रो! देहस्पर्श के द्वारा इन्द्रियविषयों से अनुभव किया जाने वाला सुख जीवन के किसी भी रूप में अपने पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा सुख बिना किसी प्रयास के स्वतः प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार कि हमें दुख प्राप्त होता है।” (भागवत७.६.३)। सुख-प्राप्ति के सम्बन्ध में यह विचारधारा बिल्कुल सही है।

भगवद्गीता (६.२१) में असली सुख का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

सुखम् आत्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

“आध्यात्मिक रूप से हर्षमय स्थिति में मनुष्य असीम दिव्य सुख में रहता है और दिव्य इन्द्रियों के द्वारा उसका भोग करता है। इस प्रकार स्थापित हो जाने पर फिर वह सत्य से कभी दूर नहीं जाता।” मनुष्य को सुख की अनुभूति परा इन्द्रियों से करनी होती है। परा इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों से बनी इन्द्रियाँ नहीं होतीं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक प्राणी है (अहं ब्रह्मास्मि) और प्रत्येक व्यक्ति व्यष्टि देही है। इस समय हमारी इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों से आच्छादित हैं और अज्ञान के कारण आच्छादित करने वाली इन इन्द्रियों को हम अपनी वास्तविक इन्द्रियाँ मान लेते हैं। किन्तु अपनी वास्तविक इन्द्रियाँ तो भौतिक आवरण के भीतर हैं। देहिनोऽस्मिन् यथा देहे—भौतिक तत्त्वों के आवरण के भीतर आध्यात्मिक इन्द्रियाँ होती हैं। सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्—आध्यात्मिक इन्द्रियों के अनाच्छादित होते ही हम इन इन्द्रियों के द्वारा सुखी हो सकते हैं। आध्यात्मिक इन्द्रियों की तुष्टि का वर्णन इस प्रकार हुआ है— हृषीकेन हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते। जब इन्द्रियाँ हृषीकेश की भक्ति में लगी रहती हैं तब इन इन्द्रियों की पूर्ण तुष्टि होती है। इन्द्रियतृप्ति के इस श्रेष्ठ ज्ञान के बिना कोई अपनी

भौतिक इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास कर सकता है, किन्तु उसे सुख कभी नहीं मिल सकेगा। इन्द्रियतुष्टि की अपनी अभिलाषा को चाहे कोई बढ़ा ले और अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए इच्छित फल भी प्राप्त कर ले, किन्तु उसे कभी सुख एवं सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकेगा क्योंकि यह भौतिक स्तर पर होता है।

ब्राह्मण संस्कृति के अनुसार मनुष्य को बिना किसी विशेष प्रयास के जो प्राप्त हो जाये उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए और आध्यात्मिक चेतना का अनुशीलन करना चाहिए। तभी वह सुखी होगा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रयोजन इसी ज्ञान का प्रसार करना है। जिन व्यक्तियों को वैज्ञानिक आध्यात्मिक ज्ञान नहीं होता वे भ्रमवश सोचते हैं कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य भौतिक कार्यकलापों से दूर रहने का प्रयास करने वाले पलायनवादी हैं। जबकि तथ्य यह है कि हम जीवन के चरम सुख को प्राप्त करने के वास्तविक कार्यों में लगे रहते हैं। यदि किसी को आध्यात्मिक इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रशिक्षण न मिले और वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लगा रहे तो उसे कभी भी नित्य तथा आनन्दमय सुख नहीं मिल सकेगा। अतएव *श्रीमद्भागवत* (५.५.१) में संस्तुति की गई है—

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं

शुद्धयेद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्

मनुष्य को तपस्या करनी चाहिए जिससे उसकी अस्तित्व परक स्थिति पवित्र हो जाये और उसे असीम आनन्दमय जीवन की प्राप्ति हो सके।

पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः ।

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

पुंसः— जीव का; अयम्— यह; संसृतेः— संसार में आवागमन का; हेतुः— कारण; असन्तोषः— भाग्य में लिखे फल से असन्तोष; अर्थ-कामयोः— काम तथा अर्थ के लिए; यदृच्छया— प्रारब्ध से; उपपन्नेन— प्राप्त हुआ; सन्तोषः— सन्तोष; मुक्तये— मुक्ति के लिए; स्मृतः— उपयुक्त माना जाता है।

भौतिक जीवन कामेच्छा की पूर्ति एवं अधिक धन पाने की इच्छा में असन्तोष उत्पन्न करता है। बारम्बार जन्म तथा मृत्यु से पूर्ण भौतिक जीवन के बने रहने का यही कारण है। किन्तु प्रारब्ध से जो कुछ प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहने वाला मनुष्य इस भौतिक जगत से मुक्ति पाने के योग्य है।

यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्धते ।
तत्प्रशाम्यत्यसन्तोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छा—लाभ-तुष्टस्य—भगवान् की कृपा से जो कुछ प्राप्त हो जाये उसी से सन्तुष्ट; तेजः—तेज; विप्रस्य—ब्राह्मण का; वर्धते—बढ़ जाता है; तत्—वह (तेज); प्रशाम्यति—कम हो जाता है; असन्तोषात्—असन्तोष के कारण; अम्भसा—जल डालने से; इव—मानो; आशुशुक्षणिः—अग्नि ।

जो ब्राह्मण प्रारब्ध से जो कुछ भी प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहता है, वह आध्यात्मिक शक्ति में निरन्तर बढ़ते जाकर प्रबुद्ध होता रहता है, किन्तु असन्तुष्ट ब्राह्मण की आध्यात्मिक शक्ति उसी तरह क्षीण होती जाती है, जिस प्रकार पानी छिड़कने से अग्नि की ज्वलनशक्ति घटती है ।

तस्मात्त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद्वरदर्षभात् ।
एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—आसानी से मिली हुई वस्तुओं से सन्तुष्ट होने के कारण; त्रीणि—तीन; पदानि—पग; एव—निस्सन्देह; वृणे—में याचना करता हूँ; त्वत्—आपसे; वरद-ऋषभात्—मुक्तहस्त दान करने वाले से; एतावता एव—इतने ही से; सिद्धः अहम्—मैं पूर्ण सन्तोष अनुभव करूँगा; वित्तम्—उपलब्धि; यावत्—जहाँ तक; प्रयोजनम्—आवश्यक है ।

अतएव हे राजा! दानियों में सर्वश्रेष्ठ आपसे मैं केवल तीन पग भूमि माँग रहा हूँ । इस दान से मैं अत्यधिक प्रसन्न हो जाऊँगा क्योंकि सुखी होने की विधि यही है कि जो नितान्त आवश्यक हो उसे पाकर पूर्ण सन्तुष्ट हो लिया जाये ।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम् ।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति उक्तः—इस प्रकार कहे जाने पर; सः—उसने (बलि महाराज ने); हसन्—हँसते हुए; आह—कहा; वाञ्छातः—जैसी तुमने इच्छा की है; प्रतिगृह्यताम्—अब मुझसे ले लो; वामनाय—वामन भगवान् को; महीम्—भूमि; दातुम्—देने के लिए; जग्राह—लिया; जल-भाजनम्—जलपात्र ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब बलि महाराज से भगवान् इस प्रकार बोले तो बलि हँस पड़े और उन्होंने कहा “बहुत अच्छा । अब जो इच्छा हो प्राप्त करो ।” वामनदेव को इच्छित भूमि देने के अपने वचन की पुष्टि करने के लिए उन्होंने अपना जलपात्र उठाया ।

विष्णवे क्षमां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम् ।
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विष्णवे—भगवान् विष्णु (वामनदेव) को; क्षमाम्—भूमि; प्रदास्यन्तम्—देने के लिए उद्यत; उशनाः—शुक्राचार्य ने; असुर-
ईश्वरम्—असुरों के राजा (बलि महाराज) को; जानन्—भलीभाँति जानते हुए; चिकीर्षितम्—जो योजना थी; विष्णोः—
भगवान् विष्णु की; शिष्यम्—अपने शिष्य से; प्राह—कहा; विदाम् वरः—हर बात को जानने वालों में श्रेष्ठ ।

भगवान् विष्णु के प्रयोजन को जानते हुए विद्वानों में श्रेष्ठ शुक्राचार्य ने तुरन्त ही अपने शिष्य

बलि से, जो भगवान् वामनदेव को सब कुछ देने जा रहे थे, इस प्रकार कहा ।

श्रीशुक्र उवाच

एष वैरोचने साक्षाद्भगवान्विष्णुरव्ययः ।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक्रः उवाच—शुक्राचार्य ने कहा; एषः—यह (वामन रूप बालक); वैरोचने—हे विरोचनपुत्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष;
भगवान्—भगवान्; विष्णुः—विष्णु; अव्ययः—अव्यय; कश्यपात्—अपने पिता कश्यप से; अदितेः—अपनी माता अदिति के
गर्भ से; जातः—उत्पन्न; देवानाम्—देवताओं का; कार्य-साधकः—हित में काम करने वाला ।

शुक्राचार्य ने कहा : हे विरोचनपुत्र! यह वामन रूपधारी ब्रह्मचारी साक्षात् अव्यय भगवान्
विष्णु है। यह कश्यप मुनि को अपना पिता और अदिति को अपनी माता स्वीकार करके
देवताओं का हित साधने के लिए प्रकट हुआ है ।

प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता ।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

प्रतिश्रुतम्—वचन दिया गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एतस्मै—उसको; यत् अनर्थम्—जो अहित होना है; अजानता—न जानने
वाले तुम्हारे द्वारा; न—नहीं; साधु—उत्तम; मन्ये—मैं सोचता हूँ; दैत्यानाम्—असुरों का; महान्—महान्; उपगतः—प्राप्त किया
हुआ; अनयः—अशुभ कार्य, अन्याय ।

तुम यह नहीं जान पा रहे कि इन्हें भूमि देने का वचन देकर तुमने कैसी घातक स्थिति
अंगीकार कर ली है। मेरी समझ में यह वचन (प्रतिज्ञा) तुम्हारे लिए उत्तम नहीं है। इससे असुरों
को महान् क्षति होगी ।

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् ।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह व्यक्ति जो ब्रह्मचारी लग रहा है; ते—तुम्हारी; स्थानम्—अधिकृत भूमि; ऐश्वर्यम्—धन-धान्य; श्रियम्—भौतिक सौन्दर्य; तेजः—भौतिक शक्ति; यशः—कीर्ति, ख्याति; श्रुतम्—शिक्षा; दास्यति—देगा; आच्छिद्य—तुमसे लेकर; शक्राय—तुम्हारे शत्रु इन्द्र को; माया—नकली; माणवकः—मनुष्य का ब्रह्मचारी पुत्र; हरिः—वास्तव में भगवान् हरि है।

यह व्यक्ति जो ऊपर से ब्रह्मचारी लग रहा है वास्तव में भगवान् हरि है, जो तुम्हारी सारी भूमि, सम्पत्ति, सौन्दर्य, शक्ति, यश तथा शिक्षा लेने के लिए इस रूप में आया है। यह तुम्हारा सर्वस्व छीनकर तुम्हारे शत्रु इन्द्र को दे देगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस प्रसंग में बताया है कि हरिः शब्द 'छीन लेने वाले' का द्योतक है। यदि कोई अपना सम्बन्ध भगवान् हरि से जोड़ता है, तो वे उसके सारे क्लेशों को हर लेते हैं और प्रारम्भ में ऊपर से ऐसा लगता है कि भगवान् उसकी सारी सम्पत्ति, कीर्ति, शिक्षा तथा सौन्दर्य का हरण कर रहे हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०.८८.८) में कहा गया है—*यस्याहम् अनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः*। भगवान् ने महाराज युधिष्ठिर से कहा, "मैं अपने भक्त पर जो पहला अनुग्रह करता हूँ वह यह है कि मैं उसका सब कुछ विशेषकर उसका भौतिक ऐश्वर्य अर्थात् धन हर लेता हूँ।" निष्ठावान् भक्त के प्रति भगवान् का यह विशेष अनुग्रह होता है। यदि निष्ठावान् भक्त कृष्ण को सर्वोपरि चाहता है, किन्तु यदि वह भौतिक पदार्थों में भी आसक्त रहता है और उसका धन कृष्णभक्ति की प्रगति में बाधक बनता है, तो भगवान् चालाकी से उसका सारा धन हर लेते हैं। यहाँ पर शुक्राचार्य कहते हैं कि यह वामन ब्रह्मचारी तुम्हारा सर्वस्व हर लेगा। इस प्रकार वे यह सूचित करते हैं कि भगवान् मनुष्य का सारा धन और उसका मन भी छीन लेंगे। यदि कोई भगवान् के चरणकमलों पर अपना मन अर्पित कर देता है (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*) तो वह सहज में उन्हें प्रसन्न करने के लिए अपना सर्वस्व दे सकता है। यद्यपि बलि महाराज भक्त थे, किन्तु वे भौतिक सम्पत्ति के प्रति अनुरक्त थे; अतएव भगवान् ने उन पर विशेष कृपा की और वामन रूप धारण करके उनकी सारी सम्पत्ति एवं उनके मन को भी उनसे छीन लिया।

त्रिभिः क्रमैरिमाल्लोकान्विश्वकायः क्रमिष्यति ।

सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

त्रिभिः—तीन; क्रमैः—पगों द्वारा; इमान्—इन सभी; लोकान्—तीनों लोकों को; विश्व-कायः—विश्व रूप धारण करके; क्रमिष्यति—वे क्रमशः विस्तार करेंगे; सर्वस्वम्—सब कुछ; विष्णवे—भगवान् विष्णु को; दत्त्वा—दान देकर; मूढ—हे मूर्ख; वर्तिष्यसे—तुम जीविका चलाओगे; कथम्—कैसे।

तुमने उन्हें दान में तीन पग भूमि देने का वचन दिया है, किन्तु जब तुम देने इसे दे दोगे तो वे तीनों लोकों में अधिकार जमा लेंगे। तुम निपट मूर्ख हो। तुम नहीं जानते कि तुमने कितनी बड़ी भूल की है। भगवान् विष्णु को सर्वस्व दान देने पर तुम्हारे पास जीविका का कोई साधन नहीं रहेगा। तब तुम कैसे जिओगे ?

तात्पर्य : बलि महाराज तर्क कर सकते थे कि मैंने तो केवल तीन पग भूमि देने का वचन दिया है। किन्तु प्रकाण्ड विद्वान् ब्राह्मण होने के नाते शुक्राचार्य तुरन्त समझ गये कि यह हरि की चाल है, जो वहाँ झूठे ही ब्रह्मचारी के रूप में प्रकट हुए हैं। मूढ वर्तिष्यसे कथम् शब्द बताते हैं कि शुक्राचार्य पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण थे। ऐसे पुरोहित अपने शिष्यों से दक्षिणा प्राप्त करने में रुचि रखते हैं। अतएव जब शुक्राचार्य ने देखा कि बलि महाराज ने अपना सारा अधिपत्य खतरे में डाल दिया है, तो वे समझ गये कि इससे न केवल राजा पर अपितु स्वयं शुक्राचार्य के परिवार पर वज्रपात हो जायेगा क्योंकि उनका परिवार महाराज बलि की कृपा पर निर्भर था। एक वैष्णव तथा एक स्मार्त ब्राह्मण में यही अन्तर होता है। स्मार्त ब्राह्मण सदैव भौतिक लाभ की बात सोचता है, जबकि वैष्णव सदैव भगवान् को प्रसन्न करने में रुचि लेता है। शुक्राचार्य के कथन से प्रतीत होता है कि वे हर दृष्टि से स्मार्त ब्राह्मण थे जिन्हें निजी लाभ में ही रुचि थी।

क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः ।

खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

क्रमतः—क्रमशः; गाम्—भूमि; पदा एकेन—एक पग से; द्वितीयेन—दूसरे पग से; दिवम्—सारा बाह्य आकाश; विभोः—विश्वरूप का; खं च—आकाश भी; कायेन—उनके दिव्य शरीर के विस्तार से; महता—विश्वरूप से; तार्तीयस्य—जहाँ तक तीसरे पग की बात है; कुतः—कहाँ है; गतिः—पग रखने के लिए।

सर्वप्रथम वामनदेव एक पग से तीनों लोकों को घेर लेंगे, तत्पश्चात् वे दूसरा पग भरेंगे और बाह्य आकाश की प्रत्येक वस्तु को ले लेंगे और तब वे अपने विश्वरूप का विस्तार करके सर्वस्व पर अधिकार जमा लेंगे। तब तुम उन्हें तीसरा पग रखने के लिए कहाँ स्थान दोगे ?

तात्पर्य : शुक्राचार्य बलि महाराज को बताना चाह रहे थे कि वे भगवान् वामन द्वारा ठगे जाएँगे।

उन्होंने कहा “तुमने तीन पग का वचन दिया है, किन्तु केवल दो ही पग में तुम्हारा सर्वस्व समाप्त हो जायेगा। तब तुम उन्हें तीसरे पग के लिए किस प्रकार स्थान दे पाओगे?” शुक्राचार्य को पता नहीं था कि भगवान् अपने भक्त की किस तरह रक्षा करते हैं। भक्त को चाहिए कि भगवान् की सेवा में वह अपने अधिकार की सारी वस्तुएँ खतरे में डाल दे किन्तु उसकी सदैव रक्षा होती है और वह कभी भी परास्त नहीं होता। शुक्राचार्य ने भौतिक दृष्टि से अनुमान लगाकर सोचा कि बलि महाराज किसी भी तरह ब्रह्मचारी भगवान् वामनदेव को दिया गया अपना वचन पूरा नहीं कर सकेंगे।

निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम् ।
प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

निष्ठा—शाश्वत निवास स्थान; ते—तुम्हारा; नरके—नरक में; मन्ये—सोचता हूँ; हि—निस्सन्देह; अप्रदातुः—वचन पूरा न कर सकने वाले पुरुष का; प्रतिश्रुतम्—जिसको वचन दिया गया हो; प्रतिश्रुतस्य—किसी के द्वारा दिये गये वचन का; यः—अनीशः—अशक्त; प्रतिपादयितुम्—पूरी तरह पूर्ण करने में; भवान्—आप।

तुम निश्चित रूप से अपना वचन पूरा करने में असमर्थ होंगे और मैं सोचता हूँ कि अपनी इस असमर्थता के कारण तुम्हें नरक में शाश्वत निवास करना पड़ेगा।

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते ।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्—उस; दानम्—दान की; प्रशंसन्ति—सन्तजन प्रशंसा करते हैं; येन—जिससे; वृत्तिः—जीविका; विपद्यते—संकट में पड़ जाये; दानम्—दान; यज्ञः—यज्ञ; तपः—तपस्या; कर्म—सकाम कर्म; लोके—इस संसार में; वृत्तिमतः—अपनी जीविका के अनुसार; यतः—जैसाकि है।

विद्वान् व्यक्ति उस दान की प्रशंसा नहीं करते जिससे किसी की अपनी जीविका खतरे में पड़ जाये। दान, यज्ञ, तप तथा सकाम कर्म वही कर सकता है, जो अपनी जीविका कमाने में पूर्ण सक्षम हो (जो अपना भरण-पोषण न कर सके उसके लिए ये कार्य असम्भव हैं)।

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

धर्माय—धर्म के लिए; यशसे—अपने यश के लिए; अर्थाय—अपना ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के हेतु; स्व-जनाय च—तथा कुटुम्बीजनों के पालन पोषण के लिए; पञ्चधा—इन पाँच भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के लिए; विभजन्—बाँटते हुए; वित्तम्—अपने संचित धन को; इह—इस संसार में; अमुत्र—अगले संसार में; च—तथा; मोदते—भोग करता है।

अतएव जो ज्ञानी है उसे चाहिए कि अपने संचित धन को पाँच भागों में विभाजित कर दे—
धर्म के लिए, यश के लिए, ऐश्वर्य के लिए, इन्द्रियतृप्ति के लिए तथा कुटुम्बी-जनों के भरण-पोषण के लिए। ऐसा व्यक्ति इस लोक में तथा परलोक में भी सुखी रहता है।

तात्पर्य : शास्त्रों का आदेश है कि यदि किसी के पास धन हो तो उसे पाँच भागों में विभाजित कर देना चाहिए—एक भाग धर्म के लिए, दूसरा भाग यश के लिए, तीसरा ऐश्वर्य के लिए, चौथा इन्द्रियतृप्ति के लिए तथा पाँचवाँ भाग कुटुम्बीजनों के भरणपोषण के लिए। किन्तु वर्तमान समय में सारे लोग ज्ञान से विहीन होने के कारण अपना सारा धन परिवार की तुष्टि के लिए खर्च करते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ही उदाहरण से हमें शिक्षा दी कि पचास प्रतिशत संचित धन कृष्ण के लिए, पच्चीस प्रतिशत अपने ऊपर तथा शेष पच्चीस प्रतिशत अपने कुटुम्बीजनों पर खर्च करना चाहिए। मनुष्य का मुख्य उद्देश्य कृष्णभावनामृत में प्रगति करना होना चाहिए। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम सम्मिलित होंगे। किन्तु, क्योंकि उसके परिवार के लोग भी कुछ लाभ की आशा रखते हैं अतएव अपने संचित धन का कुछ अंश उन्हें भी देकर सन्तुष्ट करना चाहिए। यह शास्त्रीय आदेश है।

अत्रापि बह्वचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम ।

सत्यमोमिति यत्प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अत्र अपि—इस सम्बन्ध में भी (सत्य क्या है, क्या नहीं); बहु-ऋचैः—श्रुति मंत्रों के द्वारा जो बह्वच श्रुति कहलाते हैं और वेदों का साक्ष्य हैं; गीतम्—गाया हुआ; शृणु—सुनो; मे—मुझसे; असुर-सत्तम—हे असुरश्रेष्ठ; सत्यम्—सत्य है; ओम् इति—ॐ से आरम्भ होने वाला; यत्—जो; प्रोक्तम्—कहा हुआ; यत्—जो; न—ॐ से आरम्भ नहीं होता; इति—इस प्रकार; आह—कहा जाता है; अनृतम्—असत्य; हि—निस्सन्देह; तत्—वह।

कोई यह तर्क कर सकता है कि चूँकि तुमने पहले ही वचन दे दिया है अतएव अब कैसे मना कर सकते हो? हे असुरश्रेष्ठ! तुम मुझसे बह्वच-श्रुति का साक्ष्य ले सकते हो जो यह कहती है कि वह वचन सत्य है, जिसके आरम्भ में ॐ हो; वह असत्य है, जो ॐ से आरम्भ न हो।

सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते ।

वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—वास्तविक सत्य; पुष्प-फलम्—फूल तथा फल; विद्यात्—समझा जाना चाहिए; आत्म-वृक्षस्य—शरीर रूपी वृक्ष के; गीयते—जैसा वेदों में वर्णित है; वृक्षे अजीवति—यदि वृक्ष ही न जीवित रहे; तत्—वह (पुष्पफलम्); न—नहीं; स्यात्—हो; अनृतम्—झूठ; मूलम्—जड़; आत्मनः—शरीर की।

वेदों का आदेश है कि शरीर रूपी वृक्ष का वास्तविक परिणाम तो इस से मिलने वाले उत्तम फल तथा फूल हैं। किन्तु यदि यह शरीर रूपी वृक्ष ही न रहे तो फिर इन वास्तविक फल-फूलों के होने की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ तक कि यदि शरीर असत्य की नींव पर भी टिका हो तो भी शरीर रूपी वृक्ष के बिना वास्तविक फल-फूल नहीं हो सकते।

तात्पर्य : यह श्लोक बताता है कि इस शरीर में रंचमात्र असत्य के बिना असली सत्य भी नहीं विद्यमान रह सकता। मायावादियों का कहना है—*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—आत्मा सत्य है और माया असत्य है। किन्तु वैष्णव दार्शनिकों को मायावादी दर्शन मान्य नहीं है। यदि तर्क के लिए इस भौतिक जगत को मिथ्या मान भी लिया जाये तो माया में फँसा जीव शरीर की सहायता के बिना इससे बाहर निकल भी नहीं सकता। शरीर की सहायता के बिना कोई न तो धर्म का पालन कर सकता है, न कोई दार्शनिक पूर्णता का चिन्तन कर सकता है। अतएव फूल तथा फल (पुष्पफलम्) को शरीर के परिणाम के रूप में प्राप्त करना होता है। शरीर की सहायता के बिना वह फल प्राप्त भी नहीं हो सकता। इसलिए वैष्णव दर्शन युक्त-वैराग्य की संस्तुति करता है। ऐसा नहीं है कि सारा ध्यान शरीर पर ही दिया जाये, किन्तु उसके साथ-साथ शरीर के भरण-पोषण की उपेक्षा भी न की जाये। जब तक शरीर रहता है मनुष्य वैदिक आदेशों का पूरा अध्ययन करके जीवन के अन्त समय सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (८.६) में हुई है—*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।* मृत्यु के समय हर बात की परीक्षा होती है। इसलिए यद्यपि यह शरीर नश्वर है, नित्य नहीं है, मनुष्य इससे अच्छी से अच्छी सेवा ले सकता है और अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है।

तद्यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्धर्ततेऽचिरात् ।

एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; यथा—जिस प्रकार; वृक्षः—वृक्ष; उन्मूलः—जड़ समेत उखाड़ने पर; शुष्यति—सूख जाता है; उद्धर्तते—गिर पड़ता है; अचिरात्—शीघ्र ही; एवम्—उसी तरह; नष्ट—नष्ट हुआ; अनृतः—यह नाशवान् शरीर; सद्यः—तुरन्त; आत्मा—शरीर; शुष्येत्—सूख जाता है; न—नहीं; संशयः—कोई सन्देह।

जड़ समेत उखाड़ने पर वृक्ष तुरन्त गिर जाता है और सूखने लगता है। इसी प्रकार यदि कोई इस शरीर की परवाह नहीं करता, जो असत्य माना जाता है—अर्थात् यदि इस असत्य का उन्मूलन कर दिया जाये—तो यह शरीर निश्चय ही सूख जाता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—

प्रापञ्चितया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

“जो व्यक्ति वस्तुओं का कृष्ण से सम्बन्ध जाने बिना उन्हें बहिष्कृत कर देता है उसका वैराग्य अधूरा होता है।” (भक्तिरसामृत-सिन्धु १.२.२६६)।

यदि शरीर कृष्ण की सेवा में निरत हो तो शरीर को भौतिक नहीं मानना चाहिए। कभी-कभी गुरु के आध्यात्मिक शरीर के विषय में भ्रम हो जाता है। किन्तु श्रील रूप गोस्वामी उपदेश देते हैं—
प्रापञ्चितया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः । कृष्ण की सेवा में पूर्णतय निरत शरीर की उपेक्षा भौतिक समझकर नहीं करनी चाहिए। जो उपेक्षा करता है उसका वैराग्य झूठा है। यदि शरीर का ठीक से भरण-पोषण नहीं होता तो यह जड़ से उखाड़े गये वृक्ष की भाँति गिर कर सूख जाता है, जिससे आगे फल-फूल नहीं लिए जा सकते। अतः वेदों का आदेश है—

*ॐ इति सत्यं नेत्यनृतं तद् एतत्पुष्पं फलं वाचो यत् सत्यं सहेश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिर्भविता ।
पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदत्यथैतन्मूलं वाचो यदनृतं यद्यथा वृक्ष अविर्मूलः शुष्यति, स उद्वर्तते
एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलम् आत्मानं करोति, स शुष्यति स उद्वर्तते, तस्मादनृतं न वदेद् दयेत त्वेतेन ।*

तात्पर्य यह है कि जो कार्य परम सत्य (ॐ तत्सत्) की तुष्टि के लिए शरीर की सहायता से किये जाते हैं, वे कभी नाशवान् नहीं होते, भले ही वे नाशवान् शरीर द्वारा सम्पन्न किए जाएँ। निस्सन्देह, ऐसे कार्य शाश्वत होते हैं। अतएव शरीर की ठीक से देखभाल करनी चाहिए। चूँकि यह शरीर शाश्वत नहीं है, नाशवान् है कोई इसे शेर द्वारा खाया जाने नहीं दे सकता है, न किसी शत्रु के द्वारा वध होने दिया जा सकता है। शरीर की रक्षा के लिए सारी सावधानियाँ बरतनी चाहिए।

पराग्रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत्तदोमिति ।

यत्किञ्चिदोमिति ब्रूयात्तेन रिच्येत वै पुमान् ।

भिक्षवे सर्वम् ॐ कुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पराक्—जो पृथक् करे; रिक्तम्—जो आसक्ति से मुक्त बनाये; अपूर्णम्—अपूर्ण, अधूरा; वा—अथवा; अक्षरम्—यह अक्षर; यत्—जो; तत्—वह; ओम्—ओङ्कार; इति—इस प्रकार कहा गया; यत्—जो; किञ्चित्—जो कुछ भी; ॐ—ओङ्कार; इति—इस प्रकार; ब्रूयात्—यदि तुम कहो; तेन—ऐसा कहने से; रिच्येत—मुक्त हो जाता है; वै—निस्सन्देह; पुमान्—मनुष्य; भिक्षवे—भिक्षुक को; सर्वम्—सारा; ॐ कुर्वन्—ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए दान देने से; न—नहीं; अलम्—पर्याप्त; कामेन—इन्द्रियतृप्ति के लिए; च—भी; आत्मने—आत्म-साक्षात्कार के लिए।

ॐ शब्द का उच्चारण ही मनुष्य के धनधान्य के वियोग का सूचक है। दूसरे शब्दों में, ॐ का उच्चारण करने से मनुष्य धन के प्रति आसक्ति से छूट जाता है क्योंकि उसका धन उससे ले लिया जाता है। किन्तु धनविहीन होना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी इच्छाओं को पूरा नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, ॐ शब्द का उच्चारण करने से मनुष्य विपन्न हो जाता है। विशेषतया जब कोई किसी दरिद्र व्यक्ति या भिक्षुक को दान देता है, तो उसका आत्म-साक्षात्कार तथा उसकी इन्द्रियतृप्ति अधूरे रह जाते हैं।

तात्पर्य : बलि महाराज भिक्षुक रूप में आये वामनदेव को सर्वस्व दान कर देना चाहते थे, किन्तु बलि महाराज के कुलगुरु शुक्राचार्य उनके इस वचन को नहीं समझ पाये। शुक्राचार्य ने वैदिक साक्ष्य प्रस्तुत किया कि दरिद्र व्यक्ति को सर्वस्व दान नहीं देना चाहिए वरन् जब कोई दरिद्र दान माँगने आये तो उससे इस प्रकार झूठ बोले “मेरे पास जितना था आपको दे दिया। अब मेरे पास और कुछ भी नहीं है।” मनुष्य को चाहिए अपना सर्वस्व दान में न दे। वास्तव में ॐ शब्द ओम् तत् सत् अर्थात् परम सत्य के लिए है। ओङ्कार धन के प्रति आसक्ति से छुटकारे के लिए है क्योंकि धन का उपयोग परमेश्वर के हेतु करना चाहिए। आधुनिक सभ्यता में गरीबों को दान देने की प्रवृत्ति है। ऐसे दान का कोई आध्यात्मिक महत्त्व नहीं होता क्योंकि वास्तव में हम देखते हैं कि यद्यपि निर्धनों के लिए अनेक अस्पताल तथा अन्य संस्थान हैं, किन्तु प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार निर्धन वर्ग तो सदैव रहेगा ही। अनेक धर्मार्थ संस्थाओं के होते हुए भी गरीबी को मानव समाज से दूर नहीं भगाया जा सका है। अतएव यहाँ पर संस्तुति की गई है—*भिक्षवे सर्वम् ओम् कुर्वन् नालं कामेन चात्मने*। मनुष्य को चाहिए कि निर्धन भिक्षुओं को अपना सारा धन न बाँटे।

इसका सर्वोत्तम हल है कृष्णभावनामृत आन्दोलन। यह आन्दोलन निर्धनों के प्रति सदैव दयालु रहता है—केवल इसलिए नहीं कि यह उन्हें भोजन देता है अपितु उन्हें कृष्णभावनाभावित होने की

विधि सिखा कर जागृत भी करता है। अतएव हम उन निर्धनों के लिए हजारों केन्द्र खोल रहे हैं, जो धन तथा ज्ञान दोनों में निर्धन हैं। इन निर्धनों को कृष्णभावनामृत का ज्ञान देने तथा उन्हें अवैध मैथुन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने से दूर रह कर अपना चरित्र सुधारने के लिए इन केन्द्रों को स्थापित किया जा रहा है। इन जघन्य पापकर्मों के कारण मनुष्यों को जन्म-जन्मांतर कष्ट भोगने पड़ते हैं। धन के सदुपयोग की सर्वश्रेष्ठ विधि है ऐसा केन्द्र खोलना जहाँ सभी लोग रहकर अपना चरित्र सुधार सकें और वे समस्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी सुविधाएँ प्राप्त कर सकें, किन्तु वहाँ वे आध्यात्मिक नियंत्रण में रहें जिससे वे सुखपूर्वक जीवन बिताते हुए कृष्णभावनामृत में प्रगति करने के लिए अपना समय बचा सकें। यदि किसी के पास धन है, तो उसे व्यर्थ ही नहीं बहाना चाहिए। इसका उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अग्रसर करने में होना चाहिए जिससे सारा मानव समाज सुखी, समृद्ध तथा भगवद्धाम वापस जाने के प्रति आशान्वित हो सके। इस सम्बन्ध में वैदिक मंत्र इस प्रकार है—

पराग्वा एतद् रिक्तमक्षरं यदेतद् ॐ इति तद्यत्किञ्चिद् ॐ इति आहात्रैवास्मै तद् रिच्यते । स यत्सर्वम् ॐ कुर्याद् रिच्यादात्मानं स कामेभ्यो नालं स्यात् ।

अथैतत्पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः ।

सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात्स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; एतत्—यह; पूर्णम्—पूर्णतया; अभ्यात्मम्—अपने आपको नितान्त निर्धन बताकर दूसरे की सहानुभूति माँगना; यत्—जो; च—भी; न—नहीं; इति—इस प्रकार; अनृतम्—मिथ्या, झूठा; वचः—शब्द; सर्वम्—पूर्णतया; न—नहीं; इति—इस प्रकार; अनृतम्—असत्य; ब्रूयात्—बोले; सः—ऐसा व्यक्ति; दुष्कीर्तिः—अपयश; श्वसन्—साँस लेता हुआ या जीवित; मृतः—मृत है या मार डाला जाये।

अतएव सुरक्षित उपाय है कि 'नहीं' कह दिया जाये। यद्यपि यह असत्य है, किन्तु इससे पूरी रक्षा हो जाती है, इससे अपने प्रति दूसरों की सहानुभूति भी मिलती है और अपने लिए अन्यो से धन एकत्र करने में पूरी सुविधा मिलती है। फिर भी यदि कोई सदा यही कहे कि उसके पास कुछ नहीं है, तो उसकी निन्दा होती है क्योंकि वह जीवित रहकर भी मृत है या उसे जीवित ही मार डालना चाहिए।

तात्पर्य : भिखारी सदैव अपने को निर्धन रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह उनके लिए अच्छा हो

सकता है क्योंकि इस तरह से उनका धन नष्ट न होने का आश्वासन मिल जाता है और धन एकत्र करने की दिशा में अन्यो का ध्यानाकर्षण तथा सहानुभूति मिलती है। किन्तु इसकी भी भर्त्सना की जाती है। यदि कोई जान बूझकर भिक्षावृत्ति को पेशा बना लेता है, तो वह जीवित ही मृत माना जाता है या अन्य दृष्टिकोण से ऐसे झूठे व्यक्ति को जीवित ही मार देना चाहिए। इस सम्बन्ध में वैदिक आदेश इस प्रकार है—*अथैतत् पूर्णमभ्यात्मं यत्रेति स यत्सर्वं नेति ब्रूयात् पापिकास्य कीर्तिर्जायते। सैनं तत्रैव हन्यात्।* यदि कोई निरन्तर निर्धन होने का स्वाँग भरे और भीख द्वारा धन संचित करे तो उसका वध कर देना चाहिए (*सैनं तत्रैव हन्यात्*)।

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे ।

गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीषु—स्त्री को प्रोत्साहित करके उसे अपने वश में करने के लिए; नर्म-विवाहे—हँसी में या विवाह में; च—भी; वृत्ति-अर्थ—अपनी जीविका कमाने के लिए; प्राण-सङ्कटे—अथवा संकट आने पर; गो-ब्राह्मण-अर्थ—गोरक्षा तथा ब्राह्मण संस्कृति के लिए; हिंसायाम्—शत्रुता के कारण हत्या किये जाने वाले व्यक्ति के लिए; न—नहीं; अनृतम्—असत्य; स्यात्—होता है; जुगुप्सितम्—गर्हित।

अपने वश में लाने के लिए किसी स्त्री से चिकनी-चुपड़ी बातें करने में, हास-परिहास में, विवाह-उत्सव में, अपनी जीविका कमाने में, प्राणों का संकट उपस्थित होने पर, गायों तथा ब्राह्मण संस्कृति की रक्षा करने या शत्रु के हाथों से किसी व्यक्ति की रक्षा करने में असत्य भाषण भी कभी निन्दनीय नहीं माना जाता।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत “बलि महाराज से भगवान् वामनदेव द्वारा दान की याचना” नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।